ईश्वरवाद बनाम पुरुषार्थवाद

✡ डा० कृपाशंकर व्यास
[संस्कृत विभाग, शासकीय महाविद्यालय, शाजापुर (म० प्र०)]

सृष्टि में विषय और विषयी प्रायः एक संस्थान के रूप में होने से पृथक् नहीं हैं। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से अथवा मानसिक प्रत्ययों से उत्पन्न सुख-दुख रूप विषयों का अनुभवकर्ता जीव है—इसे दार्शनिकों ने विषयी के द्रष्टा के रूप में नित्य स्वीकारा है जबकि विषयों को परिवर्तनशील, क्षण-भंगुर या जड़ पदार्थों से जन्य होने के कारण (अजीव भी कहा जाता है) कुछ दार्शनिकों[1] को छोड़कर शेष सभी ने अनित्य माना है। जीव-अजीव कब और कैसे संयुक्त होकर सृष्टि में कारणरूपता को प्राप्त हुए—यही गहन समस्या दार्शनिकों के समक्ष आदिकाल से बनी हुई है जिसका समाधान सभी दार्शनिकों (भारतीय और पाश्चात्य) ने यथासम्भव ढूंढ़ने का अथक प्रयास किया है। यह भिन्न बात है कि आज तक सर्वसम्मत समाधान नहीं मिल सका है। भारतीय-दर्शन के प्रयास की दिशा को समझने के लिये आवश्यक है कि इसके मूल-सिद्धान्तों को कम से कम स्थूल रूप में समझ लें।

भारतीय-दर्शन स्थूलतः दो भागों में (कालक्रमानुसार नहीं) विभाजित किया गया है—(१) आस्तिक (२) नास्तिक※। आस्तिकदर्शन के अन्तर्गत वे दर्शन आते हैं जो अपने आदिस्रोत के लिये वेदाश्रय लेते हैं। इनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा आते हैं। नास्तिकदर्शन के अन्तर्गत वे दर्शन हैं जो कि अपने सिद्धान्तों के लिये वेद को आदिस्रोत के रूप में स्वीकार नहीं करते, अपितु अपने-अपने सिद्धान्त प्रतिपादकों को ही अपने-अपने धर्म और दर्शन का आदि प्रणेता स्वीकार करते हैं। इसके अन्तर्गत चार्वाक, जैन[2], बौद्ध विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। उपरोक्त दर्शन विभागों में कतिपय विभाग जीव से परे एक अन्य सत्ता को भी मान्यता देते हैं, जबकि अन्य नहीं। इनमें ईश्वर की सत्ता को अंगीकार करने वाले दर्शन न्याय, वैशेषिक, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा एवं जैन हैं (कुछ सीमा तक तथा भिन्न अर्थ में ईश्वरीय सत्ता में विश्वास है)। सांख्य-दर्शन को अनीश्वरवादी-दर्शन भी कहा जाता है कारण कि सांख्य में पुरुष ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

ईश्वर और ईश्वरवाद (Theism) को समझने के लिये आवश्यक है कि इन शब्दों का

※ नास्तिक उस अर्थ में जो कुछ लोग कहते आये हैं। नास्तिक की परिभाषा और व्युत्पत्ति के अनुसार जैन नास्तिक नहीं हैं। **—सम्पादक**

१ (अ) जैन दार्शनिकों के अनुसार द्रव्य सत् है—यथा "सद् दव्वं वा" **—भगवती सूत्र ८।६**
(ब) "तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्" **—पंचाध्यायी, पूर्वार्ध, श्लोक ८**

२ "विद्वानों का यह भी मत है कि जैन-दर्शन आस्तिक-दर्शन है।" विशेष द्रष्टव्य—"जैनधर्म की आस्तिकता" **—चिन्तन की मनोभूमि-उपाध्याय अमरमुनि, पृ० ८६**
वस्तुतः आस्तिक या नास्तिक किसी दर्शन के लिए कहना दर्शन की उस शाखा का अपमान नहीं है बल्कि आस्तिक-नास्तिक शब्द दर्शन को विभाजित करने वाले शब्द मात्र हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किस अर्थ में प्रयोग होता है—समझा जाये। ईश्वर[3] शब्द "ईश्" धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ स्वामी होना, आदेश देना, अधिकार में करना है। "ईश्" धातु का विशेषण ही "ईश्वर" है जो कि शक्ति सम्पन्नता की ओर इंगित करता है। अतः यह कहना औचित्यपूर्ण है कि जीव से परे जो भी सत्ता है वही "ईश्वर" है। आज के समाज में ईश्वर से सम्बन्धित सिद्धान्त ईश्वर-वाद का प्रयोग व्यापक एवं संकुचित दोनों अर्थों में किया जाता है। व्यापक अर्थ में ईश्वरवाद उस सिद्धान्त को कहते हैं जो ईश्वर को सत्य मानता है। इस अर्थ की परिधि में ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्त आ जाते हैं। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने वालों में न केवल भारतीय दार्शनिक हैं अपितु पाश्चात्य[4] दार्शनिक भी हैं जिनमें विशेषरूप से उल्लेखनीय डेकार्टे (Descartes), बर्कले[5] (Berkeley), काण्ट[6] (Kant), जेम्सवार्ड (James Ward), प्रिंगल पैटिसन[7] (Pringle Pattisan) हैं। संकीर्ण अर्थ में ईश्वरवाद उस सिद्धान्त को कहते हैं जो कि एक व्यक्तित्व-पूर्ण ईश्वर का समर्थन करता है। इस सिद्धान्त का समर्थन विशेषतः जैनधर्म तथा अन्य सगुणोपासक धर्मों ने किया है। इसी मत के पक्ष में पाश्चात्य विद्वान् फ्लिण्ट[8] (Flient) का कथन है कि "वह धर्म जिसमें एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर आराधना का विषय रहता है—ईश्वरवादी धर्म कहा जाता है।" व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर व्यक्तित्वरहित ईश्वर की अपेक्षा धार्मिक भावना की सन्तुष्टि करने में अधिक समर्थ है। धार्मिक चेतना के लिये आवश्यक है कि उपासक और उपास्य के बीच निकटता रहे। इस नैकट्यभाव को बनाये रखने के लिये यह अनिवार्य है कि उपासक के हृदय में उपास्य के प्रति श्रद्धा, आदर और भक्तिभाव बना रहे (जैनदर्शन[9] एवं धर्म में भक्तिभाव को सिद्धान्ततः कोई स्थान नहीं है किन्तु व्यावहारिक जगत् में जैन समाज तीर्थंकरों के प्रति भक्तिभाव से पूरित है) और इसी प्रकार उपास्य भी उपासक के लिये करुणा, क्षमा, दया और सहानुभूति भाव से पूरित रहे। ईश्वर उपास्य है, मनुष्य उपासक है।

ईश्वरवाद वस्तुतः व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की स्थापना करके उपासक मनुष्य का उससे निकट

---

३ संस्कृत-हिन्दी कोश—**वा० व० आप्टे**, पृ० १७९-१८०
वाचस्पत्यम्—द्वितीय भाग, पृ० १०११-१०४८

४ ईश्वरवादी सिद्धान्त के प्रतिपादकों में—स्पिनोजा, जॉन कॉल्विन, जॉन टोलेण्ड, तिण्डल, लाइबनिज, ब्रेडले, रायस, हॉविसन आदि विशेष के लिए द्रष्टव्य—"ईश्वर सम्बन्धी मत" पृष्ठ—९४ से १३२ तक "धर्म-दर्शन"—**डा० रामनारायण व्यास** (मध्य प्रदेश हिन्दी अकादमी)

५ **बर्कले**—ये अनुभववादी एवं प्रत्यक्षवादी थे। दार्शनिक जीवन के प्रारंभ में इन्हें भी ईश्वर अमान्य था किन्तु दार्शनिक जीवन के अन्त में इन्होंने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है तथा ईश्वर को असीम एवं परम सत्ता वाला बतलाया है।

६ **काण्ट**—दार्शनिक जीवन के आरम्भ में इन्होंने आत्मा और ईश्वर को अज्ञात और अज्ञेय घोषित किया है किन्तु बाद में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है।

७ "The Idea of God in Recent Philosophy."

८ "Theistic Religion is a Religion in which the one Personal and Perfect God is the object of worship." Flient—Theism, p.50.

९ भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ३०३—**डा० राधाकृष्णन्**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्ध ही स्थापित करता है। ईश्वर में यदि व्यक्तित्व का अभाव हो तो वह अपने उपासक के प्रति किसी भी प्रकार से अपने कारुणिक भाव को प्रदर्शित नहीं कर सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ईश्वरवाद (चाहे भारतीय हो या पाश्चात्य) व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की स्थापना करके मानव-मानस की धार्मिक सन्तुष्टि ही करता है। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि ईश्वरवाद का प्रयोग सभी ईश्वरवादी दार्शनिकों एवं धार्मिक मतावलम्बियों ने किया अवश्य है किन्तु अर्थ में भिन्नता है।

इस सन्दर्भ में भारतीय दार्शनिक आचार्य उदयन[10] का कथन विशेष औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है कि "ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह करना ही व्यर्थ है क्योंकि कौन ऐसा मनुष्य है जो किसी न किसी रूप में 'ईश्वर' को न मानता हो—यथा उपनिषद् के अनुयायी ईश्वर को 'शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव' के रूप में, कपिल अनुयायी 'आदि विद्वान् सिद्ध' के रूप में पतंजलि अनुयायी 'क्लेश, कर्म, विपाक, आशय (अदृष्ट) से रहित, निर्माणकाय के द्वारा सम्प्रदाय चलाने वाले तथा वेद को अभिव्यक्त करने वाले' के रूप में, पाशुपत मत वाले 'निर्लेप तथा स्वतन्त्र' के रूप में, शैव 'शिव' के रूप में वैष्णव—'विष्णु' (पुरुषोत्तम) के रूप में, पौराणिक—'पितामह' के रूप में, याज्ञिक 'यज्ञ पुरुष' के रूप में, सौगत—'सर्वज्ञ' के रूप में, दिगम्बर 'निरावरण मूर्ति' के रूप में, मीमांसक 'उपास्य देव' के रूप में, नैयायिक—'सर्वगुणसम्पन्न पुरुष' के रूप में, चार्वाक—'लोक व्यवहार सिद्ध' के रूप में तथा बढ़ई 'विश्वकर्मा' के रूप में, जिनका पूजन करते हैं, वही तो 'ईश्वर' है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव सन्तुष्टि के लिये प्रायः सभी दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में ईश्वर-अस्तित्व के सिद्धान्त को अंगीकार किया है यद्यपि यह अवश्य है कि ईश्वर शब्द के अर्थों में मतैक्य नहीं है।

जगत में जीव-अजीव के संयुक्त होने में न्यायवैशेषिकादि[11] दर्शनों ने ईश्वर, प्रकृति, पुरुष, संयोग, काल, स्वभाव और यदृच्छा आदि को कारण माना है। इन दर्शनों की दृष्टि में जीव को शुभाशुभ कर्मफल की प्राप्ति ईश्वरादि के द्वारा होती है। इस मत के विपरीत जैन दार्शनिकों का मत है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और उसी प्रकार वह फल भोगने में भी स्वतन्त्र है। हाँ, यह अवश्य है कि जैन दार्शनिकों[12] ने इसके साथ ही साथ काल, स्वभाव और कर्म को भी सृष्टि में कारण स्वरूप माना है तथा यदृच्छावाद का पुरजोर खण्डन किया है।

जैनदार्शनिकों ने असंख्य जीव एवं अजीव पदार्थों की परस्पर प्रतिक्रिया के सिद्धान्त को स्वीकार कर जगत् के विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। इनके[13] मत में जगत् के सृजन

---

१० (अ) न्याय कुसुमाञ्जलि १-१
(ब) भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र, पृ० २२४

११ (अ) प्रशस्तपादभाष्य (सृष्टि संहार प्रकरण)
(ब) सांख्य कारिका २१
(स) न्यायसूत्रभाष्य
(द) गीता ५।१४

१२ आसवदि जण कम्मं परिणामेणप्पणो स णिण्णेयो।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि॥ (द्रव्य सं० २९)

१३ (अ) भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ३०२—डा० राधाकृष्णन्
(ब) पञ्चास्तिकाय समयसार, गाथा १५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा संहार के लिये किसी ईश्वर की सत्ता को मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि विद्यमान पदार्थों का नाश नहीं होता है और न ही असत् से सृष्टि का निर्माण भी सम्भव है। जन्म तथा विनाश वस्तुओं के अपने गुणों एवं पर्यायों पर निर्भर है। इस प्रकार संसार में विद्यमान जो अनेक पदार्थ एवं प्राणी हैं उन सबको जैन-दार्शनिक स्वयम्भूत एवं आधार रूप में स्वीकार करते हैं। इसी प्रक्रिया से जैनी अनेक पदार्थों की कल्पना की स्थापना करते हैं। उनका कथन है कि पदार्थ अपने को व्यक्त कर सके इसी प्रयोजन से सृष्टि के रूप में आ जाते हैं। जीवात्माओं से युक्त समस्त विश्व मानसिक एवं भौतिक अवयवों सहित लगातार अनादिकाल से चला आ रहा है तथा इसमें किसी नित्य स्थायी देवता का हस्तक्षेप भी नहीं है और न रहा है। संसार में दृष्टगत विभिन्नतायें वस्तुतः काल, स्वभाव, नियति, कर्म एवं उद्यम इन पाँच सहकारी दशाओं के कारण हैं। बीज में यद्यपि वृक्ष रूप में उदित होने की अन्तर्शक्ति विद्यमान है, फिर भी उसे वृक्ष रूप धारण करने के पूर्व काल (मौसम), प्राकृतिक वातावरण और भूमि में बोये जाने के कर्म रूप में उचित सहायता की अपेक्षा रहती ही है तभी वह वृक्ष रूप धारण कर पाता है। इतना होने पर भी वृक्ष का स्वरूप उसके मूलभूत बीज के स्वरूप पर ही निर्भर करता है। इसी कारण से वृक्षों में भिन्नता दिखलाई देती है। वृक्षों के ही समान जीवों में भी भिन्नता का यही कारण है।

जैन दार्शनिकों ने एक असीम सत्तात्मक शक्ति के रूप में यद्यपि ईश्वर को मान्यता नहीं दी है, फिर भी उनका स्पष्ट मत है कि संसार की कुछ आत्माएँ जब उचित रूप में विकसित हो जाती हैं तब वे ही दैवत्व रूप धारण कर लेते हैं—ये ही 'अर्हत्' कहलाते हैं अर्थात् सर्वोपरि प्रभु, सर्वज्ञ-आत्मा जिन्होंने समस्त दोषों पर विजय पा ली है। यह अवश्य है कि उनमें कोई सृजनात्मक शक्ति नहीं है कि फिर भी जब जीवात्मा अपनी उच्चतम पूर्णता को प्राप्त कर लेती है तत्क्षण ही वह ईश्वरत्व को प्राप्त कर परमात्मा अथवा सर्वोपरि आत्मा बन जाती है। वस्तुतः प्रत्येक जीव में उच्चतम अवस्था में पहुँचने की शक्ति है, किन्तु रहती है सुप्तावस्था में। इसी प्रकार सुप्तावस्था से क्रियात्मक धरातल पर जीवात्मा को लाकर मानव अपनी उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर ले यही जीवात्मा का परम पुरुषार्थ है। इस उच्चावस्था (ईश्वरत्व) को प्राप्त करने के लिये मानव को अपने पुरुषार्थ पर अडिग विश्वास करना होगा। यह पुरुषार्थ है क्या, इसे किस प्रकार व्यक्ति अंगीकार कर ईश्वरत्व की कोटि में आ सकता है—इसके लिये आवश्यक है पुरुषार्थ शब्द का विश्लेषित अर्थ समझना।

पुरुषार्थ का साधारणतः प्रचलित अर्थ है—मानव की शक्ति, किन्तु दार्शनिक जगत् में इस शब्द का कुछ भिन्न एवं विस्तृत अर्थ है। पुरुषार्थ शब्द के दार्शनिक अर्थ का विश्लेषण करने के पूर्व आवश्यक है कि इसका व्याकरण-सम्मत अर्थ जान लें। व्याकरण की दृष्टि से 'पुरुषार्थ' दो शब्दों के संयोग से बना है—पुरुष + अर्थ। पुरुष[१४] शब्द की व्युत्पत्ति है **पुरि देहे शेते इति पुरुषः**—

---

१४ (क) पुरि देहे शेते—शी + ड पृषोरादित्वात्
वाचस्पत्यम्—पुर् + कुषन्। पुरि = पॄ + इ।—संस्कृत हिन्दी कोश—**आप्टे**, **पृ० ६२४**
(ख) वाचस्पत्यम्—पंचम भाग, पृ० ४३७६
(ग) अर्थः = ऋ + थन्—**आप्टे कोश; पृ० ६६**
(आशय, प्रयोजन, लक्ष्य, उद्देश्य, इच्छा आदि)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् पुरि (नगर) में निवास करने वाला। मानव शरीर एक नगर के समान है इसमें निवास करने वाला 'जीव' है। अतः पुरुष का मूल अर्थ है 'जीव' किन्तु आज पुरुष शब्द जीव का पर्यायवाची न होकर पुरुषलिंग का द्योतक बन गया है; जबकि यह अर्थ व्याकरण-सम्मत नहीं है। व्याकरणसम्मत अर्थ के रूप में जब 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हो तथा उसके साथ 'अर्थ' शब्द का संयोग कर दिया जाये तो यह 'पुरुषार्थ' शब्द सम्पूर्ण मानव जाति के उद्देश्य या प्रयोजन की अभिव्यक्ति करता है। इसी कारण से इसी अर्थ में प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में 'पुरुषार्थ चतुष्टय' का उल्लेख मिलता है—

"धर्मार्थकाममोक्षाय पुरुषार्था उदाहृताः" —अग्निपुराण

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मानव जाति के जीवन का सम्पूर्ण ध्येय अन्तर्निहित है। इन चारों पुरुषार्थों में भी अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष ही श्रेयस्कर माना गया है। इसे[१५] प्राप्त करने के लिए कोई भी साधक प्रयासशील हो सकता है। भले ही वह साधक गृहस्थ हो अथवा गृहत्यागी हो, नर हो या नारी हो, बाल हो या वृद्ध हो, देश का हो या विदेश का हो। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि देश, काल, वय, जाति आदि कुछ भी साधक को साध्य की प्राप्ति में बाधक नहीं है। यदि कुछ बाधक है तो साधक की ही मानसिक-दुर्बलता जो कि उसके मन में संसार के प्रति मोह, ममता, तृष्णा आदि विकार को जन्म दे देती है जिससे वह इस संसार के महा-पंक में आमग्न हो जाता है। इसी कारण से ही वह भवचक्र के गमनागमन क्रिया से दुःखी बना रहता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि साधक अपने आप का हितचिन्तक बने। कथन[१६] भी है—

"पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि।"

इसी भाव को उपनिषदों में भी स्पष्ट किया गया है। वहाँ तो साधक को स्पष्ट चेतावनी दी गई है कि संसार में यदि कोई विषय देखने योग्य है तो वह "स्व आत्मा" है और अन्य कुछ नहीं—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"

आत्मा[१७] का चिन्तक (स्वचिन्तक) बनते ही साधक सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र एवं सम्यक्-तप का पूर्णतया एवं सर्वतोभावेन विकास करने में संलग्न हो जाता है। इस चतुरंग मार्ग के विकसित होते ही साधक के कर्मबन्धन विच्छिन्न[१८] हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप

---

१५ विशेष के लिए द्रष्टव्य—चिन्तन की मनोभूमि—उपाध्याय अमरमुनि, पृ० ७६

१६ आचारांग १।३।३

१७ (अ) "आलंवणं च मे आदा"—**नियमसार ९९**
(ब) "आदा हु मे सरणं"—**मोक्ष पाहुड १०५**

१८ (अ) "अट्ठ विहं पि य कम्मं
अरिभूयं होइ सव्व-जीवाणं।
तं कम्ममरिहंता
अरिहंता तेण वुच्चंति॥" —**आवश्यकनिर्युक्ति ९१४**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक मानवत्व की कोटि से ईश्वरत्व की कोटि में पहुँच जाता है। वस्तुतः मानव के पुरुषार्थ की इति ही जैनदर्शनानुसार ईश्वरत्व (अर्हतत्व सिद्धत्व) की प्राप्ति है। इस ईश्वरत्व की अवस्था में मानव परमात्मभाव को प्राप्त हो जाता है। उसको प्राप्ति के लिए अप्राप्तव्य कुछ नहीं रहता अपितु मानवात्मा[१९] अपने शाश्वत् स्वरूप में स्थित हो जाती है कारण कि उसका बन्धन जो कि अविद्या तथा कर्म के कारण था वह ज्ञान से सदा-सदा के लिए विच्छिन्न हो जाता है। इसी कारण जैन-दर्शन में आत्मा को अनन्त आनन्द सत् माना गया है। यहाँ यह प्रश्न संभाव्य है कि आत्मा जब सुखरूप तथा आनन्दरूप है तब दुख किस कारण से है। यह दुःख यथार्थतः कर्म[२०] बन्धन के कारण है। इसी कर्मबन्धन से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति को पुरुषार्थ का (व्यावहारिक अर्थ—शक्ति या प्रयास) आश्रय लेना पड़ता है। यहाँ पुरुषार्थ शारीरिक शक्ति का परिचायक नहीं है अपितु मानसिक शक्ति[२१] का द्योतक है। कथन भी है—

"ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः"

इसी ज्ञान रूपी पुरुषार्थ से साधारण से साधारण मानव ईश्वरत्व को प्राप्त हो सकता है। यही है जैनधर्म का मानव-दर्शन।

किसी कवि ने उचित ही कहा है—

"बीज बीज ही नहीं, बीज में तरुवर भी है।
मनुज मनुज ही नहीं, मनुज में ईश्वर भी है॥"

(—चिन्तन की मनोभूमि, पृ० ५०)

पता—
डा० कृपाशंकर व्यास
मारवाड़ सेरी
पो० शाजापुर (म० प्र०)

★

(ब) "मानवीय चेतना का चरम विकास ही ईश्वरत्व है।"

द्रष्टव्य—**चिन्तन की मनोभूमि**, पृ० ४७

१९ (अ) "खवित्ता पुव्व कम्माइ संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्ख पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो॥"

—उत्तरा० २५।४५

(ब) चिन्तन की मनोभूमि, पृ० ३१

(स) जैन-दर्शन का व्यापक रूप (जैनधर्म परिचय माला), पृ० २० —महात्मा भगवान दीन

२० "अस्त्यात्माऽनादितोबद्धः कर्मभिः कर्मणात्मकैः"

—(जैनधर्म परिचय माला भाग १२)—**लोक प्रकाश** ४२४

२१ "णाणं णरस्स सारो"—दर्शन पाहुड ३१—कुन्दकुन्दाचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org